शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मई : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, बैशाख, वीर नि०सं० २४८८☆ अंक : १

विपरीत अभिप्राय रहित-यथार्थता सहित

आत्मानुभव की महिमा

आतम अनुभव आवे जब निज आतम अनुभव आवे।
और न कछू सुहावे जब निज आतम अनुभव आवे॥टेर॥
रस नीरस हो जात ततक्षण *अक्ष विषय नहिं भावे। जब.।
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटै पुद्गल प्रीत नसावे। जब.
राग-दोषजुत चपल पक्षजुत मन पक्षी मर जावे। जब.
ज्ञानानंद सुधारस उमगे घट अंतर न समावे। जब.
भागचंद ऐसे अनुभव के हाथ जोर शिव नावे। जब.

---

*इन्द्रिय

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२०४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म के सभी ग्राहकों से

नम्र निवेदन

परम उपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के निर्मल ज्ञानमय शुद्ध अध्यात्म विद्या का स्पष्ट उपदेश; निश्चय-व्यवहारनय का आगम-आध्यात्मिक शैली से यथातथ्य स्वरूप बताकर जिनागम में परम सत्य था वह, पू० स्वामीजी युक्ति आगम और अनुभव प्रमाण द्वारा स्पष्ट करते हैं, उस परम प्रभाविक प्रवचनों का घर बैठे धर्म जिज्ञासुओं को लाभ पहुँचे, ऐसी भावना से यह आध्यात्मिक आत्मधर्म पत्र १७ साल से सुचारूरूप से चल रहा है, ग्राहकगण से प्रार्थना है कि आगामी साल के वार्षिक चंदा के ३) शीघ्रातिशीघ्र मनीआर्डर द्वारा भेजें, ताकि वी०पी० करने का कष्ट और ८३ पैसे का व्यर्थ खर्च न हो, गत साल मनीआर्डर बहुत देर से आने से आत्मधर्म की वी० पी० करने में बहुत कष्ट रहा था, और दो मास तक अंक भेजने में देर हुई थी, इस साल ग्राहकों को देर न लगाकर इस नयी साल का प्रथम अंक वी०पी० न करके मनीआर्डर शीघ्र आ जायेंगे, ऐसा विश्वास रख के (प्रथम अंक) भेजते हैं, आशा है कि अब जेठ मास का अंक वी०पी० करना न पड़े, ऐसा सहयोग देकर सभी ३) चंदा मनीआर्डर से भेज दें और हरेक ग्राहक पाँच-पाँच ग्राहक आत्मधर्म के बढ़ा दें।

आपका

जगजीवन बाउचन्द

संपादक-आत्मधर्म

आत्मधर्म

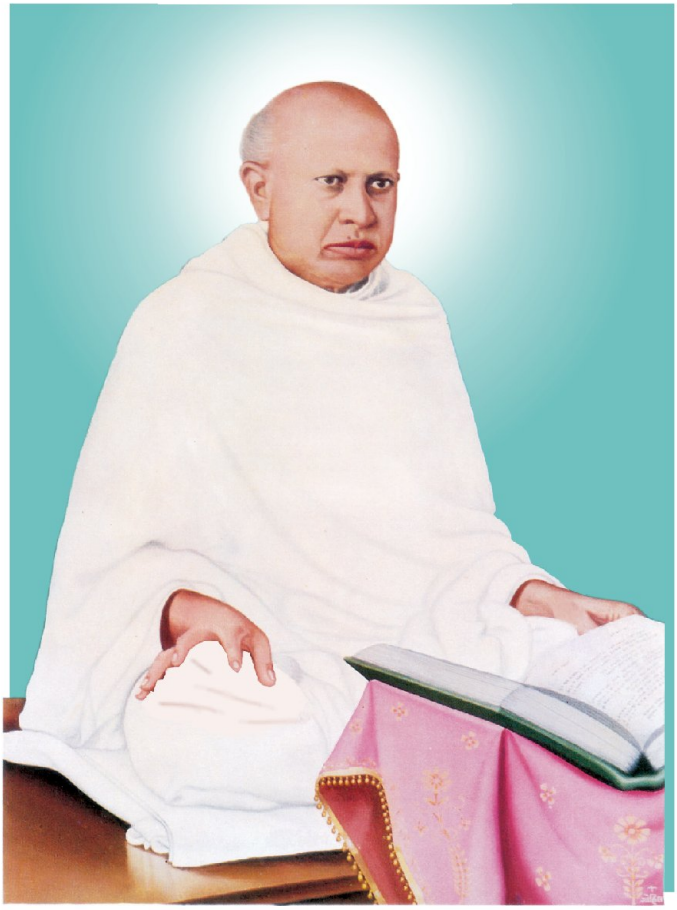

परम उपकारी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी
[आपका जन्म-जयन्ती उत्सव बैशाख शुक्ला २ को
बहुत जगह मनाया गया।]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मई : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, बैशाख, वीर नि०सं० २४८८☆ अंक : १

धर्मात्मा के अटल आदेश

वैशाख शुक्ला दोज परम प्रतापी आत्मज्ञ संत श्री कानजी स्वामी का मंगलमय जन्म दिवस है। परमार्थ से तो उन्होंने निज निर्मल पर्याय प्रगट करने के लिये जन्म धारण किया, और अनेक भव्य जीवों को निर्मलता के उत्पाद में निमित्तरूप हुए.... अर्थात् उनके लिये महा-आनन्द के कारण बने।

पूज्य गुरुदेव श्री ७२ वर्ष पूर्ण करके ७३ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। जिसप्रकार ७३ का अंक अचल है, उसीप्रकार पूज्य गुरुदेव का अचल आदेश है कि:—

(१) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से राग और पर के कर्तृत्व का अभाव निश्चल अचल है।

(२) अनेकान्त विद्या की उपासना से आत्मसिद्धि अटल है।

(३) भेदविज्ञान द्वारा आस्रव निरोध अटल है।

(४) क्षायिक सम्यक्त्वी का सम्यग्दर्शन अटल है।

(५) निश्चयरत्नत्रय की निरपेक्षता अटल है।

(६) क्षपकश्रेणीवन्त आत्मा की स्वरूपरमणता अटल है।

(७) वीतरागी देव की वीतरागता अटल है।

(८) अनन्त वीर्य शक्ति की स्वरूपरचनारूप सामर्थ्य अटल है।

(९) अखण्डित प्रतापवंत स्वातंत्र्य से शोभायमान आत्मा की प्रभुता अटल है।

(१०) अंतर्मुख अवलोकन करनेवाले को संसार का विलय अटल है।

(११) सर्वज्ञ प्रभु की सर्वज्ञता अटल है।

(१२) अयोगी जिनेश्वर का अयोगीपना अटल है।

(१३) परमात्मा का परमानन्दमयपना अटल है।

(१४) सिद्ध भगवान का सिद्धत्व अटल है।

उपरोक्त निश्चल-अटलपना का दिव्य सन्देश जो दे रहे हैं, त्रिकाल अटल वीतरागी नियमों के अकाट्य तर्कों द्वारा अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्यात्व प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिए जो प्रेरणा दे रहे हैं; जो अरिहंत को द्रव्यरूप, गुणरूप तथा पर्यायरूप से जानकर, निजात्मा को जानने का तथा उसी विधि द्वारा मोहक्षय करने का एवं निवृत्त होने का अटल उपदेश दे रहे हैं; जो आत्म परायन—(तत्पर) होने से अटल आत्मपरायनता का अमोघ बोध दे रहे हैं; जो चैतन्य भावप्राण धारणरूप अटल जीवत्व का दर्शन करा रहे हैं; जिनके श्रीमुख से 'पुरुषार्थ, पुरुषार्थ' की अटल ध्वनि निकलती है, जिनकी तत्काल बोधक वाणी में भव के अभावरूप स्वभाव की अटल झंकार उठती है; जो अटल पद के परम उपासक हैं तथा शिवरमणी को प्राप्त करने के लिये निश्चल-अटल प्रयाण कर रहे हैं—ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेव के अटल आदेशों का पालन करके हम सब उनके अटल अनुयायी बनें—ऐसी भावना के साथ आज के मंगल-दिवस पर रंग-बिरंगे भक्ति पुष्पों से अत्यन्त उल्लासपूर्वक उनका अभिनन्दन करते हैं।

वे हमारे जीवन-पथ को अटल निश्चलरूप से प्रकाशित करने के लिये दीर्घायु हों—ऐसी मंगल-कामनापूर्वक अति विनम्र भाव से उन्हें नमस्कार करते हैं!

श्री पद्मनन्दि मुनि जिनवाणी की स्तुति में कहते हैं कि:—

हे जिनवाणी माता! तेरी कृपा के बिना शास्त्रपठन-श्रवण करने पर भी तत्त्व का निर्णय नहीं होता। तो फिर तेरे आश्रय के बिना जीव को भेदविज्ञान कैसे होगा? जो जिनवाणी की उपासना नहीं करते, उनका जन्म निष्फल है। जिनवाणी कैसी है?—कि पवित्र ज्ञान-जल को धारण करनेवाली सरिता के समान है; तू तीन लोक के जीवों को शुद्ध करने का कारण है तथा तू ही निश्चय आत्मतत्त्व की श्रद्धा करनेवालों को आनन्दरूपी समुद्र को वृद्धि प्राप्त करने में चन्द्रमा के समान है। (गाथा ११ तथा २४ का भावार्थ)

ज्ञानी और अज्ञानी की तुलना

सम्यग्दृष्टि को...	मिथ्यादृष्टि को...
(१) ज्ञान-वैराग्य होने से विकार के स्वामित्व का अभाव है।	(१) अज्ञान और मोह-राग-द्वेष के स्वामित्व का सद्भाव है।
(२) स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग है।	(२) पर का ग्रहण और स्वरूप का त्याग है।
(३) स्व-पर का भेदविज्ञान वर्तता है।	(३) स्व-पर का अज्ञानमय एकत्व वर्तता है।
(४) स्व में रमते हैं और पर से विरमते हैं, इसलिये सदैव ज्ञायकभाव से जी रहे हैं।	(४) स्व से विरमता है और पर में रमता है। इसलिये सदैव भावमरण से मर रहा है।
(५) संयोग और संयोगी भाव का सदा अकर्तृत्व मानते हैं।	(५) संयोग और संयोगी भाव का सदा कर्तृत्व मानते हैं।
(६) सदा शांतरस का उपभोग है।	(६) सदा आकुलता का उपभोग है।
(७) अकंप ध्रुवस्वभाव की शुद्धता की रुचि है, इसलिये सदा निःशंक-निर्भय है।	(७) चलायमान पुण्य-पापरूप परभाव की अशुद्धता की रुचि है, इसलिये सदा सशंक-भयभीत है।
(८) अनेकान्त अमृत का आस्वादन करते हैं।	(८) एकान्त विष का स्वाद लेते हैं।
(९) निश्चय को सदा आदरणीय मानते हैं।	(९) व्यवहार को सदा आदरणीय मानता है।
(१०) अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द में सदा प्रीतिवान-संतुष्ट-तृप्त रहता है।	(१०) इन्द्रियज्ञान-सुख में सदा प्रीतिवान-संतुष्ट-तृप्त रहना चाहता है, किन्तु सदा खेद-खिन्न रहता है।
(११) आराधक हैं, इसलिये अल्पकाल में संसार के पार को प्राप्त होते हैं।	(११) विराधक है, इसलिये संसार में अनंत काल परिभ्रमण करता है।

सर्व कार्यों में कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है, ऐसी सम्भावना निरन्तर (जागृत) रखो।

(श्री राजचन्द्रजी)

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

(अंक २०३ से आगे)

[वीर संवत् २४८२, आषाढ़ शुक्ला ९, समाधिशतक, गाथा-५२]

आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्दमय है—ऐसा धर्मी जानते हैं और इसीलिये वे उसी में तत्पर रहते हैं—ऐसा कहा गया है। अब वहाँ प्रश्न करते हैं कि—हे नाथ! यदि आत्मा का स्वरूप ज्ञान-आनन्दमय है, तथा विषय दुःखरूप हैं तो उन इन्द्रिय-विषयों से विमुख होकर आत्मा का अनुभव करने में कष्ट जैसा क्यों लगता है? उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

आत्मा में ही आनन्द है, वही उपादेय है, उसी में एकाग्र होना योग्य है—ऐसी रुचि और भावना तो है, तथा अभी उसमें एकाग्र होने का जो प्रयत्न करता है, उसे प्रारम्भ में कष्ट लगता है; क्योंकि अनादि से बाह्य विषयों का ही अभ्यास है, इसलिये उन बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर आत्मभावना में आते हुए कष्ट प्रतीत होता है। बाह्य विषय सरल हो गये हैं और अंतर का चैतन्य विषय कठिन लगता है; क्योंकि कभी उसका अनुभव नहीं किया है। अंतर में एकाग्र का प्रयत्न करनेवाला पूछता है कि—प्रभो! इसमें तो कष्ट प्रतीत होता है?—ऐसा पूछते हुए कष्ट कहकर वह छोड़ना नहीं चाहता किन्तु उग्र प्रयत्न द्वारा आत्मा का अनुभव करना चाहता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! प्रारम्भ में तुझे कष्ट जैसा लगेगा, किन्तु अंतर प्रयत्न से आत्मा का अनुभव होने पर ऐसा अपूर्व आनन्द होगा कि उसके अतिरिक्त समस्त बाह्य विषय कष्टरूप-दुःखरूप भासित होंगे।

अनुभव का उद्यम करते-करते जहाँ निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति हुई—सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ बारम्बार उसी की भावना करते हैं और उन्हें आत्मा में ही सुख भासित होता है; तथा बाह्य विषय दु:खरूप लगते हैं। जब आनन्द का अनुभव नहीं था, तब तो अंतर के अनुभव का उद्यम करने में कष्ट मालूम होता था, और बाह्य में सुख भासित होता था, उन्हें आत्मा के आनन्द की रुचि (व्यवहार-विश्वास) तो है किन्तु अभी अनुभव नहीं हुआ है; इसलिये कष्ट जैसा लगता है; किन्तु जहाँ अंतर में आनन्द का अनुभव हुआ—स्वाद आया, वहाँ बाह्य रस उड़ गया और चैतन्य के अनुभव में ही सुख है, वह जाना; इसलिये अब तो उन्हें आत्मा के ध्यान का उत्साह आया... ज्यों-ज्यों अधिक एकाग्रता करेंगे, त्यों-त्यों अधिक आनन्द और शांति का वेदन होगा। जब तक आनन्द का स्वाद नहीं आया था, तब तक उसमें कष्ट लगता था, किन्तु अब जहाँ आनन्द का स्वाद आया, वहाँ धर्मी को उसमें से बाहर निकलना कष्टरूप-दु:खरूप लगता है। अज्ञानदशा में अनादि कालीन संस्कारों के कारण, विषय रुचिकर भासित होते थे, किन्तु जहाँ आत्मभावना में एकाग्र होकर उसके आनन्द का वेदन किया, वहाँ बाह्य समस्त विषयों की रुचि छूट गई, उन्हें चैतन्य के अनुभव से बाहर निकलकर परभाव में आना दु:खरूप लगता है और चैतन्यस्वरूप की भावना में—एकाग्रता में ही सुख का अनुभव होता है। चैतन्य का बारम्बार अभ्यास एवं भावना करते हुए वह सरल मालूम होता है... उसके आनन्द की समीपता होने से बाह्य विषयों की प्रीति छूट जाती है तथा आत्मा के आनन्द का वेदन होने से बाह्य विषयों के प्रति सुखबुद्धि छूट जाती है, संयोग और विकार की भावना नहीं रहती। जिसप्रकार मछली को शीतल जल रुचिकर-प्रिय है; उसमें से बाहर धूप में या अग्नि में आते हुए वह दु:ख से तड़फने लगती है; उसीप्रकार धर्मात्मा ज्ञानी को अपना शांत-चैतन्य सरोवर ही सुखकर प्रतीत होता है; उसकी शांति के वेदन से बाहर निकलकर पुण्य या पाप के भाव में आना पड़े, वह उन्हें दु:खरूप लगता है। जिसने आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का कभी अवलोकन ही नहीं किया और बाह्य विषयों को ही देखा है, उसे आत्मानुभव का प्रयत्न प्रारम्भ में कष्टदायक प्रतीत होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास और भावना करता है, त्यों-त्यों उसमें उत्साह आता है। अभ्यास दशा में कुछ कष्ट मालूम होता है, किन्तु जहाँ पूर्ण प्रयत्न करके आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, वहाँ चैतन्य सुख के समक्ष उन्हें सम्पूर्ण जगत नीरस लगता है; समस्त विषय दु:खरूप भासित होते हैं। नरक में पड़े हुए किसी सम्यक्त्वी जीव को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन की जो शांति आती है, वैसी शांति मिथ्यादृष्टि को स्वर्ग के वैभव में भी

नहीं होती। अरे! संयोग में शांति होती है या स्वभाव में? चैतन्य के शांत जल से बाहर निकलकर इन्द्रिय -विषयों की ओर दौड़ता है, वही आकुलता है तथा अतीन्द्रिय चैतन्य में उपयोग स्थिर हो, उसमें परम अनाकुल शांति है। इसलिये भाई! आत्मा के आनन्द का विश्वास करके, बारम्बार दृढ़रूप से उसमें एकाग्रता का उद्यम कर। जब तक आत्मा के आनन्द का स्वाद अनुभव में न आये, तभी तक बाह्य इन्द्रिय-विषयों में प्रीति-रुचि-उल्लास-सुख का अनुभव होता है और आत्मा का अनुभव कष्टदायक प्रतीत होता है; किन्तु जहाँ चैतन्य के आनन्द का वेदन हुआ, वहाँ आत्मा के आनन्द की ही प्रीति-रुचि-उल्लास एवं भावना होती है; फिर उसमें कष्ट का अनुभव नहीं होता; और विषय, सुखरूप नहीं किन्तु कष्टदायक प्रतीत होते हैं। जहाँ आनन्द एवं शांति का स्वाद आये, वहाँ कष्ट का अनुभव कैसे होगा? जिसने वह स्वाद नहीं लिया, उसी को कष्ट मालूम होता है।

जिसप्रकार जो मनुष्य हमेशा अपने घर के कुएँ का खारा और मैला पानी पीता हो; जिसने दूसरे गहरे कुएँ का स्वच्छ-मीठा जल कभी न चखा हो; उसे दूर के कुएँ तक जाकर स्वच्छ-मीठा जल पीना कष्टदायक प्रतीत होता है, किन्तु जहाँ एक बार उसने मीठे कुएँ के स्वच्छ जल का स्वाद लिया, वहाँ तुरन्त खारे पानी का स्वाद उड़ गया.... और अब घर के आँगन में मिलनेवाला खारा पानी छोड़कर दूर के कुएँ का पानी लाने में उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता। शीत-उष्ण ऋतु का लक्ष नहीं करता—उत्तम जल चखने के बाद गँदला जल नहीं रुचता—उसीप्रकार अज्ञानी जीव ने अनादि काल से सदा बाह्य इन्द्रिय-विषयों का खारा स्वाद लिया है, किन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय-अनाकुल मीठे स्वाद का अनुभव नहीं किया; इसलिये उनके प्रयत्न में उसे कष्ट प्रतीत होता है; किन्तु जहाँ अंतर्मुख चैतन्य-कूप में गहराई तक उतरकर विषयातीत आनन्द का स्वाद लिया, वहाँ उसके बारम्बार प्रयत्न में कष्ट मालूम नहीं होता; बल्कि उसे बाह्य विषय खारे-नीरस प्रतीत होने लगते हैं। इसलिये सदा आत्मा की ही भावना करनी चाहिये ॥२॥

● ● ●

अब, आत्मा की भावना किसप्रकार करना चाहिये, सो कहते हैं:—

तद् ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

देखो, आत्मभावना की कितनी सुन्दर गाथा है!

जिसे आत्मा प्रिय है, उसे उसका कथन करना चाहिये, दूसरों के निकट उसकी चर्चा करना

चाहिये, अन्य आत्मानुभवी पुरुषों-धर्मात्मा ज्ञानियों के निकट जाकर उस आत्मस्वरूप की पृच्छा करना चाहिये, उसी की अभिलाषा करना चाहिये तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति को ही अपना इष्ट बनाना चाहिये; उसी में तत्पर होना चाहिये, उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान होना चाहिये और उसका आदर बढ़ाना चाहिये।—इसप्रकार आत्मस्वरूप की भावना करने से अज्ञानमय बहिरात्मपना छूटकर, ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

जिसे आत्मा का अनुभव करना है, उसे तो बारम्बार आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिये; उसी की कथा करनी चाहिये; संतों के निकट जाकर उसी के सम्बन्ध में पूछना चाहिये; उसी की इच्छा-भावना करनी चाहिये तथा उसी में तत्पर-उत्साहित होना चाहिये। ज्ञान में—श्रद्धा में—उत्साह में—विचार में—सर्व में एक आत्मा को ही विषयरूप बनाना चाहिये... उसी का आदर करना चाहिये।—ऐसा करने से परिणति अन्यत्र से हटकर आत्मोन्मुख होती है।

'योगसार' में भी कहते हैं कि:—

(मन्दाक्रान्ता)

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयं।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वं॥६-४९॥

विद्वान पुरुषों को, अर्थात् आत्मार्थी मुमुक्षु जीवों को चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चयमन से—पढ़ने योग्य है (१), ध्यान करनेयोग्य है (२), आराधना करनेयोग्य है (३), पूछने योग्य है, (४), सुनने योग्य है (५), अभ्यास करनेयोग्य है (६), उपार्जन करनेयोग्य है (७) जानने योग्य है (८) कहने योग्य है (९) प्रार्थना करनेयोग्य है (१०), शिक्षा-उपदेश योग्य है (११), दर्शन योग्य है (१२), तथा स्पर्शन (अनुभवन) योग्य है (१३)। इसप्रकार तेरह बोलों से अर्थात् सर्वप्रकार से आत्मस्वरूप की भावना करनेयोग्य है—कि जिससे आत्मा सदैव स्थिरता को प्राप्त हो।

निर्जरा अधिकार में यह श्लोक रखकर ऐसा कहा है कि—ऐसे आत्मस्वरूप की भावना ही निर्जरा का उपाय है।

श्रवण में—पठन में—विचार में—भावना में—श्रद्धा में—ज्ञान में सर्वत्र अपने ज्ञानस्वरूप

का ही आदर करना चाहिये। ऐसे सर्वप्रकार के आत्मस्वरूप के अनुभव का प्रयत्न करने पर अवश्य उसकी प्राप्ति होती है और अविद्या का नाश हो जाता है। यहाँ तो अभ्यास, श्रवण, तत्परता, आराधना, पढ़ना, पूछना, देखना, जानना इत्यादि अनेक बोल कहकर यह बतलाया है कि सच्चे जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के अनुभव की कितनी तीव्र लालसा एवं रुचि होती है। अन्य सब से विमुख हो-होकर वह सर्वप्रकार से एक चैतन्य की ही भावना का प्रयत्न करता है। जिसप्रकार —इकलौता पुत्र खो गया हो तो माता उसे किस-किस प्रकार से ढूँढ़ती है!! और कोई उसे पुत्र का पता बतलाये तो कितने उत्साहपूर्वक सुनती है!! उसीप्रकार जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के निर्णय की ऐसी धुन लगी है कि बारम्बार उसी का श्रवण, उसी की पृच्छा, उसी की इच्छा, उसी में तत्परता तथा उसी का विचार करता है और जगत के विषयों का रस छूटता जाता है-विभावों से हटकर आत्मा के रस में वृद्धि होती जाती है।—ऐसे दृढ़ अभ्यास से ही आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) होती है।

जिज्ञासु को आत्मा की कैसी लगन होती है—वह बतलाने के लिये यहाँ माता-पुत्र का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार—किसी माता का इकलौता पुत्र खो जाने पर वह उसे किसप्रकार ढूँढ़ती है! जो मिलता है, उससे बात करती है तथा यही पूछती है कि—'कहीं मेरा पुत्र देखा है?' एक क्षण भी अपना पुत्र उसके चित्त से दूर नहीं होता; दिन-रात उसे पाने के लिये झूरती है.... उसीप्रकार जिसे आत्मस्वरूप की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह आत्मार्थी जीव, सत्समागम से उसी की खोज करता है; उसकी बात पूछता है कि—'प्रभो! आत्मा का अनुभव कैसे होता है?' दिन-रात आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की भावना वर्तती है, एक क्षण भी उसे नहीं भूलता... एक आत्मा की ही धुन-लगन लग रही है।

ऐसी लगनपूर्वक दृढ़ प्रयत्न करने से अवश्य ही आत्मा का अनुभव होता है। इसलिये वही करनेयोग्य है—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।

❀ ❀ ❀

[वीर सं० २४८२, अषाढ़ शुक्ला १०, मंगलवार]

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसा जिसे भान हुआ है, उसकी वृत्ति बारम्बार उसी ओर जाती है; तथा जिसे आत्मानुभव की रुचि-उत्कण्ठा जागृत हुई है, वह भी बारम्बार उसी का प्रयत्न करता रहता है। 'रुचि अनुयायी वीर्य'—अर्थात् जिसे आत्मा की रुचि जागृत हो, उसका प्रयत्न बारम्बार

आत्मा की ओर ढलता रहता है।

जिसे शरीर में आत्मबुद्धि है, वह शरीर की अच्छा रखने के लिये रात-दिन उसी का प्रयत्न और चिन्ता करता रहता है; जिसे पुत्र का प्रेम है, वह माता, पुत्र के लिये दिन-रात कैसी विह्वल रहती है! खाने-पीने में कहीं चित्त नहीं लगता; मेरा पुत्र, मेरा पुत्र—ऐसी ममता की धुन में रहती है; उसीप्रकार जिसे चैतन्यस्वरूप आत्मा की सच्ची प्रीति है, वह उसे प्राप्त करने के लिये दिन-रात लालायित रहता है, अर्थात् बारम्बार उसी का प्रयत्न करता रहता है... उसे विषय-कषाय रुचिकर नहीं लगते... एक चैतन्य के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता; उसी की भावना भाता है... उसी की बात ज्ञानियों से पूछता है... उसी का विचार करता है। जिसप्रकार माता के वियोग में बालक झूरता है और उसे कहीं चैन नहीं पड़ता; कोई पूछे कि तेरा नाम क्या है?—तो कहता है कि 'मेरी माँ!' कुछ खाने को दें तो कहेगा 'मेरी माँ!!'—इसप्रकार एक ही रटन लगाता है... माँ के बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता क्योंकि माता की गोद ही उसे गाढ़ रुचिकर—प्रिय लगती है; उसीप्रकार आत्मार्थी जीव की रुचि एक आत्मा में ही लग रही है, इसलिये मुझे आत्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो? —इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सुहाता... दिन-रात उसी की चर्चा... वही विचार... उसी का रटन... उसी के लिये झूरना...! (चिंतन) देखो, ऐसी आंतरिक लगनरूप भावना जागृत होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है और जिसे एक बार आत्मा की प्राप्ति हुई-अनुभव हुआ, वह सम्यक्त्वी भी बारम्बार उसी के आनन्द की कथा—चर्चा—विचार—भावना करता है। आत्मा का आनन्द ऐसा... आत्मा की अनुभूति ऐसी... निर्विकल्पता ऐसी... इसप्रकार उसी की लगन लगी है। ज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वरूप है—ऐसा जानकर एक उसी में लगन लगी है—उसी में उत्साह है, अन्यत्र कहीं उत्साह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की भावना से—दृढ़ प्रयत्न से—अज्ञान दूर होकर ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति होती है॥५३॥

शांति सागर में राग ज्ञान बीच भेदविज्ञान प्रथम होगा।
आये राग से ज्ञान प्रभु से द्वैत संबंध रखना होगा।
ज्ञान सूर्य के प्रबल शौर्य से दोषों का क्षरना होगा।
होगी निश्चय जीत धर्म की यही भाव भरना होगा॥

(श्री दीपचंदजी शेठिया)

सम्यक्त्व की महिमा

जिसप्रकार नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है—द्वार के बिना नगर में प्रवेश कैसे हो सकता है? उसीप्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य में प्रवेश करने के कारण सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा को ज्ञान, चारित्र, तप और की प्राप्ति नहीं होती।

जिसप्रकार मुख की शोभा नेत्र द्वारा है, उसीप्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य सम्यग्दर्शन द्वारा सुशोभित होते हैं। जिसप्रकार वृक्ष को मूल है, उसीप्रकार ज्ञानादिक का मूल सम्यग्दर्शन है।

(—'भगवती आराधना', गाथा ७४०)

जो दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है; इसलिये समयग्दर्शनरहित जीव को अनंतानंत काल में भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। और जो चारित्र से भ्रष्ट है—रहित है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित नहीं है, उसे अल्प काल में निर्वाण की प्राप्ति होगी। (७४२)

एक तो सम्यक्त्व का लाभ और दूसरा त्रैलोक्य का लाभ, उसमें त्रैलोक्य के लाभ से भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। धरणेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र पद का लाभ तो अल्पकाल में नाश को प्राप्त होता है। त्रिलोक का राज्य पाकर फिर उस राज्य से छूटकर—मरण को पाकर-चार गति में परिभ्रमण करता ही है; किन्तु सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव संसार में जन्म-मरण नहीं करता—अविनाशी सुख को प्राप्त करता है। इसलिये सम्यक्त्व के समक्ष तीन लोक का लाभ भी तुच्छ है—श्रेष्ठ नहीं है (७४६-४७)।

समयसार का अपूर्व मांगलिक

मांगलिक में अनंत सिद्ध भगवंतों का आदर करके आचार्यदेव नमस्कार करते हैं:—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचल मणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणयो सुयकेवली भणियं॥१॥

अहो, समयप्राकृत का आरम्भ करते हुए सर्व सिद्ध-भगवंतों को आत्मा में उतारकर आचार्यदेव अपूर्व मंगलाचरण करते हैं। आत्मा में साधक स्वभाव का प्रारम्भ हो, वह अपूर्व मंगल है। आत्मा का परम ध्येय ऐसा जो सिद्धपद, उसे साधने का जो भाव प्रगट हुआ अर्थात् सिद्ध-सन्मुख प्रयाण आरम्भ किया, वही मांगलिक है। अभी तक तो अनंत सिद्ध भगवंत हुए, उन सबको भावस्तुति तथा द्रव्यस्तुति द्वारा अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके यह समयसार प्रारम्भ करता हूँ। भावस्तुति अर्थात् अंतर्मुख निर्विकल्प शांतरस का परिणमन और द्रव्यस्तुति अर्थात् सिद्धों के बहुमान का विकल्प तथा वाणी—ऐसे दोनों प्रकार से स्तुति करके, अपने तथा श्रोताजनों के आत्मा में अनंत सिद्ध भगवंतों को स्थापित करता हूँ। मेरा आत्मा कितना?—कि जो अनंत सिद्धों को अपने में समावेश कर ले। आत्मा में जहाँ सिद्धों को स्थापित किया, वहाँ अब उसमें राग नहीं रह सकता। जहाँ सिद्धों का आदर किया, वहाँ राग का आदर नहीं रहता; इसलिये सिद्धों को अपने में स्थापित करते ही राग के साथ की एकत्वबुद्धि टूट गई। पंचम काल का साधक आत्मा अपने सिद्धपद के लिए प्रस्थान रखता है। हे सिद्ध भगवंतों! मैं सिद्ध पद को साधने के लिए चला हूँ, वहाँ प्रारम्भ में ही अपने आत्मा में आपको स्थापित करता हूँ और हे श्रोताजनों! तुम्हारे आत्मा में भी सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ। रुचि पूर्वक 'हाँ' कहना, इंकार मत करना। हमारा श्रोता ऐसा ही होता है कि जो अपने आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करके सुनता है; मात्र राग में स्थित रहकर नहीं सुनता; किन्तु पहले श्री धड़ाके में सिद्ध पद की भनक लेकर आता है। 'मैं सिद्ध.... तू सिद्ध!'—ऐसा श्रवण करते ही आत्मा अंदर से 'हाँ' कहता हुआ आता है।

यह समयसार भरतक्षेत्र का अलौकिक अमृतरस से भरा हुआ शास्त्र है। मांगलिक में ही सिद्धपद स्थापित करके साधकत्व का अपूर्व प्रारम्भ कराते हैं।

अहा! चैतन्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर निर्मल साधकभाव की संतति आरम्भ होती है।

सिद्धपद का पूर्ण ध्येय लेकर साधक चला... वहाँ उसका पुरुषार्थ भी ऐसा है। अहो, अनंत परमात्माओं! हमारे चैतन्य में इतना अवकाश है कि अनंत सिद्ध परमात्मा—सर्वज्ञों को अपने में स्थापित करते हैं।

अनादि से अब तक अनंत सिद्ध हुए हैं, उन्हें प्रतीति में लेकर तथा उनके मार्ग को प्रतीति में लेकर चैतन्य की सन्मुखता द्वारा स्वयं भी उनकी जाति में मिलते हैं। हे सिद्ध भगवंतों! अब मैं आपकी जाति में आता हूँ.... संसार से-राग से पृथक् होकर सिद्ध की-शुद्धात्मा की जाति में सम्मिलित होता हूँ।

मैं अपने और श्रोता के—दोनों के आत्मा में सिद्धों को स्थापित करता हूँ—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने प्रारम्भ से ही श्रोता को साथ लेकर बात कही है।

इसप्रकार आत्मा में सर्व सिद्धों की स्थापना करके इस समयसार का भाववचन से (श्रुतज्ञान से) और द्रव्यवचनरूप वाणी से परिभाषण करते हैं। जैसा प्रारम्भ किया, वैसी ही पूर्णता हुई है। अलौकिक रचना है! अहा, भरतक्षेत्र में जन्म लेकर जिन्होंने देहसहित विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर के साक्षात् दर्शन किये, उनकी पात्रता और पुण्य की क्या बात!!

सिद्ध भगवंतों की प्रतीति करके तथा अपने आत्मा में वैसी शक्ति है, उसे जानकर अपने में सिद्धों की स्थापना की है। साध्य जो शुद्धात्मा, उसकी प्रतिछन्द के स्थान पर सिद्ध भगवंत हैं, इसलिये वह ध्येयरूप है; उन सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिंतवन करके तथा उनके समान अपने स्वरूप को ध्या-ध्याकर संसारी जीव भी उन्हीं के समान सिद्ध हो जाते हैं। जिसने अंतर में सिद्धों की स्थापना की, वह सिद्धों का उत्तराधिकारी हुआ—सिद्ध का साधक हुआ। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ—इसप्रकार जिसने स्वभाव को मुख्य करके राग को गौण कर दिया, स्वभाव में परम आस्था हुई, वह जीव सिद्ध समान अपने शुद्धात्मा को ध्याकर स्वयं सिद्ध हो जाता है। जिसप्रकार बालक माता को धा-धाकर (माता का दूध पी-पीकर) पुष्ट होता है, उसीप्रकार साधक जीव सिद्धसमान अपने शुद्धस्वरूप को ध्या-ध्याकर सिद्धपद को साधते हैं।

संसार की चारों गतियों से विलक्षण ऐसी जो पंचमगति, उसे शुद्धस्वरूप के ध्यान द्वारा इस समयसार के वक्ता और श्रोता अवश्य प्राप्त करते हैं, उसमें शंका को स्थान नहीं है। ऐसे उत्तमभावपूर्वक सिद्ध भगवंतों को आत्मा में पदार्पण कराके यह समयसार प्रारम्भ किया है।

सिद्धगति स्वभावरूप है; संसार की चारों गतियाँ तो परभाव से उत्पन्न हुई हैं। कर्म के

निमित्त से उत्पन्न हुआ जो विभाव, उससे उत्पन्न देवादि चारों गतियाँ अध्रुव हैं, और यह पंचमगति तो स्वभावभावरूप होने से ध्रुव है, अब उसमें विनाशीकता नहीं है; वह सादि-अनंत ज्यों की त्यों बनी रहेगी। चारों विभावगतियों को और उनके कारणरूप विभावभावों को अपने आत्मा में से निकालकर ऐसे सिद्ध भगवंतों को स्थापित किया है; इसलिये अब परिणति का प्रवाह विभाव से विमुख होकर स्वभाव की ओर मुड़ा है। व्यवहार तथा निमित्त की उपादेयता को निकालकर अकेले सवभाव की ही उपादेयता दृष्टि में ली है। देखो, यह सिद्धपद के साधक का मांगलिक! 'पुत्र के लक्षण पालने में दिखने लगते हैं' उसीप्रकार जो सिद्धपद को साधने के लिये तैयार हुआ है, उसके ऐसे लक्षण प्रारम्भ में ही होते हैं। जो पहले से ही राग की रुचि-आकांक्षा रखता है, उसमें सिद्धपद को साधने के लक्षण नहीं हैं। सिद्धपद की साधना के लिये जो जागृत हुआ, वह प्रथम बार ही आत्मा में सिद्धपद को स्थापित करके समस्त रागादि विकल्प की रुचि निकाल देता है।

'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग।'

आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई (राग या विकल्प) उसका माहात्म्य नहीं ले सकते; उसके अंतर में तो एक शुद्ध आत्मा का ही माहात्म्य बस गया है; उससे अधिक संसार की अन्य किसी वस्तु का माहात्म्य उसे आ जाये—ऐसा नहीं होता। 'सिद्ध-सिद्ध' की भनक जिसके कानों में गूँजती हो, वह कहीं रागादि में नहीं अटकता। देखो, यह सिद्धपद के लिये साधन का महामांगलिक!

केवली तथा श्रुतकेवली भगवंतों द्वारा कहे गये इस समयप्राभृत का मैं अपने तथा पर के मोह नाश के लिये कथन करूँगा। सिद्ध समान आत्मा को ध्येयरूप रखकर इसे प्रारम्भ किया है, इसलिये उस ध्येय को चूकना नहीं। आचार्यदेव को स्वयं तो मिथ्यात्वादि मोह का नाश हुआ है, किंतु अभी किंचित् संज्वलन कषाय शेष है, उसका नाश करने के लिये समयसार का परिभाषण करते हैं और श्रोताओं में जिसे जिसप्रकार का मोह हो, उसके नाश के लिये यह श्रवण करना। वक्ता और श्रोता में जिसे जिसप्रकार का मोह हो, उसके नाश के लिये यह समयसार प्रारम्भ किया जा रहा है। जो इसे समझेगा, उसके मोह का नाश हो जायेगा।—ऐसा आचार्यदेव का इकरार-वचन है।

ऋषि, साधु, यति, मुनित्व

(परमात्मपुराण गतांक नं० २०१ से आगे)

आगे दर्शनगुण को चार भेद लगाइये है

दर्शनगुण ऋषि हैं। दर्शन देखने मात्र है। उपचार से लोकालोक को देखता है, अनंत गुण को देखता है, द्रव्य को देखता है, पर्याय को देखता है। जो दर्शनगुण न होता तो द्रव्य अदृश्य होता, तब ज्ञान किसको जानता ? ज्ञान न जानता, तब परिणमन न होता, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अभाव होते वस्तु का अभाव होता। इसलिये दर्शन की देखने रिद्धि से सब सिद्धि है। ज्ञान को न देखता तो ज्ञान के सामान्य भाव को अदृश्यता आती, तब सामान्य अदृश्य होते विशेष भी न होता। सामान्य - विशेष का अभाव होते वस्तु अभाव होता, इसलिये ज्ञान की सिद्धि, दर्शन की रिद्धि से है। सत्ता को न देखता, तब सामान्य अदृश्य होते विशेषता नाश हो जाती, तब सत्ता न रहती।

वीर्य को न देखता, तब वीर्य भी सत्ता की माफिक अदृश्य होते नाश होता। ऐसे अनंत गुण दर्शन के देखनेमात्र रिद्धि से सिद्धि हुआ।

दर्शन-देखना निर्विकल्प रस को प्रगट करते हैं। जहाँ देखना तहाँ जानना, जानना तहाँ परिणमना। इसलिये दर्शन के देखने से उपयोग रिद्धि है। एक गुण के अभाव से सब अभाव होय; इसलिये दर्शन अपनी रिद्धि से सबकी सिद्धि करता है। दर्शन सर्वदर्शी है। दर्शन असाधारण गुण है। दर्शनचेतना मुख्य चेतना है। दर्शन प्रधान है, इसलिये दर्शन-गुण ऐसी रिद्धि के धारक होने से उसे ऋषि कहते हैं।

आगे दर्शन-गुण को साधु कहते हैं

दर्शन-गुण दर्शन परिणति द्वारा अपने को स्वयं साधता है। दूसरों के देखने के द्वारा उसको प्रगट करने का (प्रकाशित करने का) कार्य साधे-आप सबको देखे। दर्शन के द्वारा आत्मा देखै, इसलिये सर्वदर्शीपना में आत्मा को साधे।

अपने देखने भाव द्वारा (दर्शनोपयोग्य-साधन द्वारा) जानना ज्ञान का होता है। क्योंकि यह

सामान्य-विशेषरूप सर्व पदार्थ का निर्विकल्प सत्ता अवलोकन दर्शन करे, सो वह ज्ञान में तो निर्विकल्प सत्ता अवलोकन नहीं, इसलिये यह दर्शन का भाव है। जो सामान्य न होवे तो विशेष ज्ञान न होवे, सब अदृश्य, होने से ज्ञान किसका होवे ? इसलिये द्रशि-दर्शन से अदृश्यपना मिटा। ज्ञान भी विशेष ज्ञाता हुआ। ज्ञान-दर्शन का युगपत् भाव हैं। इसलिये दर्शन सवगुण को प्रगट कर साधता है, इसलिये **साधु** है।

अब दर्शन को यति कहते हैं

दर्शन ने अदर्शन विकार दूर किया है। जो विकार रहता तो सर्व शक्ति दर्शन में न होती। विकार जीतने से **जति** हुआ। दर्शन विकार को शुद्धता में न आने दे। सकल शुद्धतारूप दर्शन की ऐसी निराकार शक्ति प्रगट हुई कि जिसमें किंचित् भी अतिचार न लगे, इसलिये **दर्शन यति** हुआ।

अब दर्शन को मुनि कहते हैं

दर्शन में ज्ञान भी दर्शाया गया। वहाँ केवलदर्शन में केवलज्ञान का अवलोकन हुआ, तब प्रत्यक्ष ज्ञानी को मुनि संज्ञा है। दर्शन अनंत गुण को प्रत्यक्ष देखता है। जो प्रत्यक्ष करे, उसको मुनि कहते हैं। इसलिये दर्शन को मुनि संज्ञा कहिये। इसप्रकार सब गुण में चार-चार भेद जानना।

अब आगे परमात्मा राजा के उमराव अनंत हैं
जिसमें कितने ही नाम लिखते हैं।

प्रभुत्वनाम, विभुत्वनाम, तत्त्वनाम, अमलभाव, चैतन्यप्रकाश, निजधर्म, असंकुचितविकास, त्याग उपादान शून्यत्व, परिणाम शक्तित्व, अकर्तृत्व, कर्तृत्व, अभोक्ता, भोक्ता, भाव, अभाव, साधारणप्रकाश, असाधारणप्रकाशकर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, सत्ता, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व इत्यादि अनंत हैं अपनी-अपनी मर्यादा का काम सब ही करते हैं। इनका विशेष वर्णन आगे करेंगे।

आत्मप्रदेशों में गुण को पुरुष और गुण परिणति को नारी (स्त्री) कही तो वह विलास कैसे करता है, सो कहते हैं—

वीर्य गुण पुरुष के निज परिणतिरूप वीर्य की नारी सो दोनों मिलकर भोग करते हैं सो कहते हैं। वीर्य के अनंत अंग हैं, सत्तावीर्य, ज्ञानवीर्य, दर्शनवीर्य, प्रमेयवीर्य, इसप्रकार अनंत गुण के अनंत वीर्यरूप अनंत अंग द्वारा अपनी नारी जो परिणति (पर्याय) उसके साथ भोग भोगता है। ऐसे सब अंग में वीर्य परिणति परिणामी। वीर्य परिणति का अंग वीर्य गुण नामा पुरुष से व्याप्त हुआ, तब

दोनों अंग के मिलने से अतीन्द्रिय भोग हुआ, तब आनन्द पुत्र हुआ। तब सब गुण परिवार में वीर्यशक्ति विस्तरि रही थी; इसलिये वह वीर्य की शक्ति से निष्पन्न थे। उसके पुत्र भयें सब गुण वीर्य अंग था, वीर्य अंग प्रफुल्लित हुये, तब सर्व गुण प्रफुल्लित हुये। इसलिये सब गुण पुरुष में (=आत्मा में) मंगल हुआ। ऐसे ही ज्ञान पुरुष मंत्री पद का स्वामी था, वह अपनी ज्ञान परिणति से मिलकर भोग करता है, उसका वर्णन करते हैं।

ज्ञान अनंत शक्ति स्वसंवेदनरूप धारण कर, लोकालोक का जाननेवाला अनंत गुण को जाने। सत् पर्याय, सत् वीर्य, सत्प्रमेय, सत् अनंत गुण के अनंत सत् को जाने। अनंत महिमा निधि ज्ञानरूप ज्ञान परिणति नारी, ज्ञान से मिलकर परिणति ज्ञान का अंग मिलने से ज्ञान का रसास्वाद परिणति ज्ञान की ले ज्ञान परिणति का विलास करता है।

जाननेरूप उपयोग चेतना ज्ञान की परिणति प्रगट करे तो परिणति नारी का विलास न होता तो ज्ञान अपने जानन लक्षण को यथार्थ न रख सकते। जैसे अभव्य के ज्ञान है, ज्ञान परिणति नहीं। इसलिये ज्ञान यथार्थ न कहिये। इसलिये ज्ञान ज्ञानपरिणति को धरै, तब यथार्थ नाम पाता है। इसलिये ज्ञान परिणति ज्ञान यथार्थ प्रभुत्व रखता है। जैसे भली नारी अपने पुरुष के घर का जमाव करती है, तैसे ज्ञान स्ववशसुख युक्तघर ज्ञान परिणति करती है।

ज्ञान परिणति ज्ञान के अंग को अनुभव कर करके विलास करती है। ज्ञान के साथ सदा ज्ञानपरिणति नारी है। अनंत शक्ति युगपत् (एक साथ) सब ज्ञेय जानने की शक्ति ज्ञान में तो है परन्तु जब तक ज्ञान की परिणति नारी से भेंट न हुई, तब तक अनंत शक्ति दबी रही—(प्रगट न हुई)। यह अनंत शक्ति परिणतिरूपी नारी ने खोली है। जैसे विशल्या ने लक्ष्मण की शक्ति खोली, तैसे ज्ञानपरिणति नारी ने ज्ञान की शक्ति खोली, ऐसे ज्ञान अपनी परिणति नारी का विलास अपने प्रभुत्व का स्वामी हुआ। परिणति ने जब ज्ञान का अनुभव किया और अनुभव होते ही भोग अतीन्द्रिय हुआ, तब ज्ञान परिणति का संभोग ज्ञान पुरुष ने किया। तब दोनों के संभोग योग से आनन्द नाम पुत्र हुआ तब सब गुण परिवार ज्ञान में आये थे, सो ज्ञान के आनन्द पुत्र होने से हर्ष हुआ, सबके हर्ष मंगल हुआ।

आगे दर्शन-गुण के दर्शन परिणति नारी है, सो अपनी नारी का विलास दर्शन करता है सो कहते हैं

दर्शन परिणति नारी दर्शन अंग से मिलती है, तब दर्शन अपने अंग द्वारा विलास करता है।

दर्शन से (दर्शन परिणति) नारी है। नारी से दर्शन का स्वरूप सधता है। दर्शनपरिणति नारी का सौभाग्य भी दर्शन पति से मिलता है। जब तक दर्शन से परिणति दूर थी, तब तक निर्विकल्प रस पीती नहीं थी—व्याकुलरूप थी। इसलिये अनंत सर्वदर्शित्वशक्ति का नाथ जो अपना पति से मिलन होते ही अनाकुलदशा धारण करती है। ऐसी महिमा वहाँ है। सारा वेद पुराण (चारों अनुयोगमय शास्त्र) जिसका यश गाते हैं। दर्शन वेदै-अनुभवन करे, तब अर्थात् वह परिणति शुद्धपरिणति से दर्शन शुद्ध दर्शन के अनुसार परिणति है। परिणति के अनुसार दर्शन है। परिणति जब दर्शन को धारण करे, तब स्वयं अपने में सुखी है। दर्शन अपनी परिणति न धारण करे, तब स्वयं अति अशुद्ध होता, तब शुद्धता न रहे।

परिणति को दर्शन बिना विश्राम नहीं और दर्शनगुण को परिणति बिना सुख नहीं—शुद्धता नहीं। परिणति दर्शन के वेदने के लिये गुण का प्रकाश रखती है। न परिणमें तो देखना न रहे। दर्शन न होय तो परिणति किसके आश्रय होय, किसको परिणमे? यह परिणति दर्शन पति से मिलकर संभोग सुख लेती है। दर्शन, परिणति को अपने अंग सों मिलाय महा संभोगी हुआ वर्तता है। तहाँ दोनों के संभोग द्वारा आनन्द नाम पुत्र की उत्पत्ति है। तब सब गुण परिवार महा आनन्दी हुवे मंगल करता है। इसलिये इस नारी का दर्शन पुरुष का विलास का वर्णन करने को कौन समर्थ है।

आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान और अनुभव ही सुख का उपाय है

[जामनगर में समयसार कर्ता-कर्म अधिकार, गाथा ७१-७२ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(माघ शुक्ला ६, संवत् २०१७)

शुभाशुभभाव का स्वामित्व, सो भ्रान्ति है; वह भ्रान्ति सच्चा ज्ञान होने पर ही दूर होती है। जिसप्रकार जल में सेवार (काई) है, वह मैल है; उसीप्रकार आत्मा की वर्तमान दशा में जो शुभाशुभभाव है, वह मैल है; अनात्मा है—आत्मभाव नहीं है। मैं तो अरागी परमेश्वर पद का धारक त्रिकाल ज्ञानस्वभावी हूँ, वर्तमान दशा में रागादि दोष है किन्तु उतना और वैसा मैं नहीं हूँ; रागादि मेरा कर्तव्य नहीं है—इसप्रकार सच्ची जिज्ञासा और अभ्यास द्वारा अंतर्मुख होकर आत्मा की प्रतीति करे तो सच्चे सुख का अनुभव हो।

प्रथम सच्ची जिज्ञासा और तत्त्वज्ञानी की संगति सहित तत्त्वज्ञान का अभ्यास द्वारा आत्मा की पहचान करना चाहिये।

आत्मा अनादि कालीन है; उसका ज्ञान जीव ने एक क्षण भी नहीं किया। पुण्य-पाप विकार उसकी वर्तमान दशा में होते हैं; वह एक क्षण का संसारभाव है; जीव जब विपरीत पुरुषार्थ करता है, तब वह होता है; त्रैकालिक निर्मल स्वभाव की दृष्टि एवं स्थिरता द्वारा उसे (अनित्य होने के कारण) दूर किया जा सकता है।

शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! इस अज्ञानमय कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कैसे होता है? उसके उत्तररूप गाथा ७१ में कहा है कि जीव जब सच्चे पुरुषार्थ द्वारा स्वसन्मुख हो अर्थात् त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी आत्मा और मिथ्यात्व-रागादि आस्रवों के अंतर को समझ ले तो उसे बंधन नहीं होता। त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में क्षणिक विभाव का अत्यन्त अभाव है;—इसप्रकार विभाव की अत्यन्त विपरीतता, स्वभाव की स्वतंत्रता और ध्रुवस्वभाव का सामर्थ्य जानकर अंतर में पूर्ण स्वरूप की रुचि करना धर्म का मूल है।

मैं आत्मा हूँ, ज्ञातापन मेरा स्वभाव और कर्तव्य है—ऐसा न मानना-वह रागादि में कर्तापना और ज्ञातास्वभाव में अरुचिरूप क्रोध है। मैं स्वभाव की अरुचिरूप क्रोधादिरहित ज्ञाता ही हूँ। ज्ञान

में राग नहीं है—ऐसा भेदज्ञान होने पर, जीव का क्रोधादि के साथ एकतारूप अज्ञान दूर हो जाता है। इसप्रकार ज्ञान से ही वीतरागी मार्ग की प्राप्ति तथा बंध का निरोध होता है।

शिष्य विशेष जिज्ञासा से पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध किसप्रकार होता है? उसका उत्तर देते हैं कि—

ज्ञात्वा आस्त्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

अपूर्व और यथार्थ बात समझने के लिये एकाग्रतापूर्वक उसका भाव ग्रहण करना चाहिये। यहाँ भेदज्ञान की रीति बतलाते हैं। [ज्ञानस्वभाव की अरुचि तथा विकार में कर्तृत्व की रुचि को यहाँ मुख्यतः आस्त्रव कहा गया है।] आस्त्रव कैसे हैं? अशुद्धता, विपरीतता एवं दुःख के कारण हैं और आत्मा सदा पवित्र, निर्मल तथा सुख का कारण है—ऐसा जानकर जो जीव ज्ञानस्वभाव का आदर करता है, (स्वोन्मुख दृष्टि करता है, ज्ञानस्वभाव का अनुकरण करता है) वह जीव, आस्त्रवों से निवृत्त होता है।

आत्मा ध्रुवस्वभावरूप से तो सदा ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योति है, किन्तु वर्तमान विकार पर दृष्टि होने से स्वभाव को भूलकर—मैं पर की अवस्था कर दूँ; मैं उसकी रचना का कर्ता हूँ; मैं होऊँ तो कार्य व्यवस्थित ढंग से चलने लगे; मैं बिगड़ों को सुधार दूँ—इत्यादि मानता है, जो पर में कर्ताबुद्धिरूप महान भ्रम है। उसमें ज्ञातास्वभावी चैतन्य की महान हिंसा है। शुभाशुभभाव मेरा कर्तव्य है, वह मुझे हितकर है—यह मान्यता मिथ्यारुचिपूर्ण होने के कारण स्वभाव की हिंसारूप है।

आत्मज्ञानी तो मानता है कि मैं ज्ञातास्वरूप हूँ; रागादि दोष मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है। चौथे गुणस्थान में जीव को यथार्थ श्रद्धा होने पर भी भूमिकानुसार दया, दान, पूजा, भक्ति के शुभभाव होते हैं। दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक ही पाँचवाँ गुणस्थान होता है; वहाँ उसके योग्य दया, दान, पूजा, भक्ति के अतिरिक्त अणुव्रत के शुभभाव होते हैं। मुनिदशा तीन कषाय के अभावपूर्वक महाव्रतादि २८ मूलगुण होते हैं, उन रागभावों को वे बंधन के कारण अर्थात् आस्त्रव (मैल) मानते हैं। जैसे जल में काई हो, वह जल का असली स्वरूप नहीं है, मैल है, ऐसे मिथ्या अभिप्राय और शुभाशुभ राग मैल है आस्त्रव है।

परपदार्थ आत्मा को दुःख दाता नहीं है, किन्तु भूलरूप आस्त्रव ही दुःख दाता हैं। जो जीव अपनी प्रभुता को भूला है, वह पामरता में रुका है। अपनी विपरीत मान्यता पुण्य-पाप विकार की

ममता में रुकना, सो रोग है—शरीर का रोग, रोग नहीं है। शुभाशुभभाव दोनों विकार हैं, उनसे अपना अस्तित्व मानना, हित मानना, उनमें कर्ताकर्मपना मानना, सो महान रोग है। कहा है कि:—

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान॥

सच्चे निमित्तों के प्रति राग करना योग्य है—ऐसी मान्यता, या परवस्तु मेरी और मैं उसका—इसप्रकार पृथक् वस्तु में एकत्वबुद्धि करना, वह महान भ्रम है। ज्ञातास्वभाव अखंड आनन्दमय है। उससे विपरीत पुण्य-पाप-रागादि भाव हैं; उनकी रुचि, सो महान रोग है। त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव की अधिकता के अनुभव द्वारा वह रोग दूर होता है। ऐसे उपाय को समझे तो उसमें स्वोन्मुखतारूप विचार और ध्यान, वह उपादानकारण है और गुरु आज्ञा, निमित्तकारण है। जहाँ जीव निश्चय से जागृत हुआ, वहीं व्यवहार तथा उसका ज्ञान होता है। अज्ञानी की दृष्टि और भार संयोग—निमित्त और व्यवहार के ऊपर है; इसलिये 'प्रथम व्यवहार चाहिये'—ऐसा मानकर वह तत्त्व का विरोध करता है। ज्ञानी स्व-पर प्रकाशक ज्ञान से जानता है कि व्यवहार होता है।

जब तक आत्मा के आश्रय से भेदज्ञान नहीं किया, तब तक उसके व्यवहार को व्यवहार कारण भी नहीं कहा जाता। त्यागी हुआ, अनंत बार महाव्रतों का पालन किया; किन्तु वह राग है, उदयभाव है; वह आत्मा नहीं है—आत्मा का धर्म नहीं है और न धर्म का कारण है। धर्म के नाम से किया हुआ वह शुभराग, पुण्यबंध का कारण है, किन्तु धर्म के प्रारम्भ का कारण नहीं है—ऐसा तीनों काल वीतराग के मार्ग का नियम है।

मैंने यह वेश ग्रहण किया तथा इतनी पर-वस्तुओं का त्याग किया—यह मान्यता दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि बतलाती है, क्योंकि परवस्तु तुझसे भिन्न है, त्यागरूप ही है, वह तुझमें नहीं है; तू तो ज्ञानमय भगवान आत्मा है, स्वयं ज्ञान है; तुझे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान हो सकता है किन्तु पर का ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। मोह के कारण भले ही माने, किन्तु कोई आत्मा पर का कर्ता-हर्ता त्रिकाल में नहीं हो सकता।

ज्ञानी को जब तक पूर्ण दशा न हो, तब तक भूमिकानुसार रागादि आते हैं किन्तु उन्हें वह अपना नहीं मानता, क्योंकि दृष्टि में (श्रद्धा में) एकरूप पूर्ण-स्वभाव का ही आदर वर्तता है—विकार का कर्तृत्व अथवा आदर ज्ञानी को किंचित् नहीं होता।

जिसे विकार का आदर है, उसे संयोग और आस्रव की भावना है तथा त्रिकाल अविकारी स्वभाव का तिरस्कार है। अज्ञान में स्वभाव-विभाव या हित-अहित का सच्चा निर्धार नहीं होता।

महाव्रतों का पालन करे, नग्न मुनि होकर शुक्ललेश्या के शुभ परिणाम करे, दो-दो महीने के उपवास करके आहार लेने निकले, वहाँ निर्दोष आहार मिले तभी लेता है; कोई अपमान करे, तब भी क्रोध न करे, तथापि दृष्टि राग और शरीर की क्रिया पर है; इसलिये उसके आत्मा में अंशमात्र भी विवेक का उदय नहीं होता; करोड़ वर्ष पूर्व की आयु हो, तब तक ऐसे उच्च प्रकार के शुभभाव करे तो उसके फल में नववें ग्रैवेयक में उत्पन्न होता है; लेकिन उससे क्या ? उसने राग का मूल्यांकन किया, किन्तु मैं अरागी परमेश्वर पद का धारक त्रिकाल ज्ञानस्वभावी हूँ—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा आत्मा का मूल्यांकन नहीं किया। अपने आत्मा में आत्मप्रतीति एवं आत्मा का माहात्म्य हो तो अनादिकालीन भ्रान्ति दूर हो जाये। सच्ची जिज्ञासा तथा अभ्यास द्वारा आत्मा की पहिचान करके भ्रान्ति दूर करना, वह सुख का सच्चा उपाय है। ज्ञानी की आज्ञा स्वोन्मुख होने की है और वही पथ्य है।

शुभाशुभभाव का स्वामित्व है, वह भ्रान्ति है; ज्ञान होते ही भ्रान्ति दूर हो जाती है। जिसप्रकार जल में सेवार (काई) है, वह मैल है, उसीप्रकार आत्मा की वर्तमान दशा में जो शुभाशुभभाव है, वह मैल है—अनात्मा है, आत्मभाव नहीं है। त्रैकालिक निर्मल आनन्दस्वभाव को उपादेय जानने पर, क्षणिक मलिन भावों का आदर-प्रेम छूट जाता है; अज्ञानी को संयोग और विकार का ही प्रेम है; इसलिये वह उन्हें अपना मानता है-करनेयोग्य मानता है।

शुभाशुभभाव (पुण्य-पाप) दोष हैं;—ऐसा जो नहीं मानता, वह उन्हें करनेयोग्य मानता है—हितकारी मानता है, किन्तु टालने योग्य नहीं मानता। प्रथम श्रद्धा में त्रैकालिक निर्दोष आत्मा को अंतर्दृष्टि द्वारा पकड़े, तभी वह दोषों को दोषरूप जानकर, उन्हें टाल सकता है। वह दोष अपनी भूल है, क्षणिक है, उसका कर्ता मोहवश होनेवाला मैं ही हूँ, ऐसा जाने तो त्रैकालिक निर्दोष स्वभाव के आश्रय से, दोष क्षणिक होने से-दूर हो सकते हैं। यदि वे क्षणिक न हों तो ध्रुवस्वभाव होंगे और तब वे दूर नहीं हो सकते। जिसे दोष है, वह दोषों को टालकर निर्दोष सुखी होता है तो वह सुखदशा कहाँ से आती है ?—कहीं बाहर से वह नहीं आती; जो पर्याय बीत गई है, उसमें से भी नहीं आती, किन्तु अंतर में अनंत गुण सम्पन्न त्रैकालिक पूर्ण निर्दोष स्वभाव विद्यमान है, उस ओर वर्तमान ज्ञान तथा वीर्य (पुरुषार्थ) को लगाये तो निर्दोषता (सुख) की उत्पत्ति हो सकती है।

निर्दोषता प्रगट करना हो तो सदोषता को दूर करना चाहिये—अर्थात् उसके स्थान पर निर्मल ज्ञानानन्द के आश्रय से शुद्धदशा प्रगट करना चाहिये। आत्मा के सामान्य (ध्रुव) स्वभाव में निर्दोषता विद्यमान है, जिसकी दृष्टि करके एकाग्र होने पर अंतर से वह प्रगट हो सकती है—बाह्य से प्रगट नहीं होती।

जल में सेवार (काई) की भाँति पुण्य-पाप मैल है। सदोषता और निर्दोषता दोनों अवस्थाएँ हैं। निर्दोषता अर्थात् धर्म-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्विकारी आत्मदशा। वह कहाँ से आती है? नित्य ध्रुवस्वरूप आत्मा के आश्रय से वह आती है। निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव, संयोग और विकार (शुभाशुभराग) को ही देखते हैं, उसका आदर करते हैं; किन्तु नित्य सहज ज्ञानानन्द शक्ति अपने पास है, वह अपने ही आधीन है, उसकी महिमा जीवों को नहीं आती।

सूक्ष्म बात समझ में नहीं आती—यह मान्यता भी क्षणिक है; इसलिये बदल सकती है। ज्ञानी कहते हैं कि—'समझ में नहीं आता'—ऐसा मत कहो! कहावत है कि—'वणिक जीमे (भोजन करे) आज और भाट जीमे कल'—ऐसा प्रस्ताव वणिक ने रखा। भाट रोज मांगने आता था, लेकिन कल कभी आये नहीं और भाट को भोजन मिले नहीं! उसीप्रकार आज परम सत्य समझने का अवसर आया है, लेकिन जो वादा ही करता रहेगा, उसे फिर अनंत काल में भी यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त नहीं हो सकता। आज जो सत्य समझने से इनकार करता है, वह शुभभाव भी करेगा तो उसके फल में कहीं तीर्थंकर के पास नहीं जा सकता; और कदाचित् पहुँच भी गया तो वहाँ भी विरोधदृष्टि बनाये रखकर इनकार ही करेगा।

जिसे सत्य बात कानों में पड़ने पर नहीं रुचती और तत्त्व की महिमा नहीं आती, वह महान अवसर खो रहा है। एक चारण स्त्री पवित्र-सती के समान थी। एकबार राजा को राजतिलक हो रहा था, तब नियमानुसार वह स्त्री कुमकुम तिलक करने आई; उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजा की दृष्टि बिगड़ गई, वह कामासक्त हो उठा। राजा तिलक नहीं करने देता है और बार-बार उसे देखकर मुँह फिरा लेता है। स्त्री समझ जाती है। वह अपनी वृद्ध माता से कहती है कि—'माँ, राजा फिर रहा है।' माँ भी समझदार थी; वह उत्तर देती है कि—'बेटी, राजा नहीं फिरता, राजा के दिन फिर रहे हैं; वह राज्य चलाने योग्य नहीं रहेगा।' उसीप्रकार आचार्य भगवान यहाँ परमात्मपद प्राप्त करने की बात समझाते हैं कि—पराश्रय से पुण्य-पाप, काम-क्रोधादि भाव होते हैं, उनकी दृष्टि छोड़ क्योंकि वह तेरा पद (तेरा स्वरूप) नहीं है; और जो सत्चिदानन्द निज स्वरूप है, उसका स्वीकार कर, उसकी प्रतीति और ज्ञान करके उसमें एकताबुद्धि कर—उसमें जागृत हो, उसी का आदर कर! तथापि जो मुँह फिराता है, आत्महित के कार्य में वादे करता है, बहाने बतलाता है, संयोगों का दोष निकालता है, उसे आत्महित की अरुचि है। भाई! इस समय नहीं तो फिर कब समझेगा? क्षणभर में आँख मिंच जायेगी; लाखों चौरासी योनिरूप भव के गहरे कूप में गिरने पर फिर अवसर नहीं मिलेगा।

दु:ख से मुक्त होने की बात सुने, वहाँ जीव को अपूर्व उत्साह होना चाहिये। 'परमात्मप्रकाश' ग्रंथ में आचार्यदेव कहते हैं कि—बछड़े को दिन भर बंधन में रखने के बाद उसका मालिक पानी पिलाने के समय छोड़ने आता है, तब मालिक को देखकर वह छूटने की खुशी में उछल-कूद करता है—आनन्द विभोर हो जाता है कि—अब तो छूट जायेंगे! उसीप्रकार जीव अनंत काल से पुण्य-पापरूपी बंधन में ममत्व में बँधा है; उस बंधन से छूटने की यह बात कर रहे हैं; इसे सुनकर यदि अपूर्व उत्साह एवं रुचि जागृत न हुई तो समझो कि उसमें बछड़े जितनी भी बुद्धि नहीं है।

अनंत बार इस जीव ने सर्व प्रकार के दु:ख सहन किये हैं। सुअर, कौओं—कुत्तों की पर्यायें धारण की हैं। संयोग-वियोग या जन्म-मरण दु:ख नहीं है किन्तु मोहभाव ही महान दु:ख है; उससे छूटने की बात में अपूर्व उत्साह—प्रेम न आये तो—(आचार्य कहते हैं कि) वह पाड़े और बछड़े से भी गया बीता है।

यह बात इस समय नहीं; अभी तो हमें पुण्य करना है;—ऐसी पुण्य की रुचि में जीव अनादिकाल से बँधा है। पुण्य की रुचिवाला जीव, पुण्य में धर्म मानता है तथा पाप में सुख की कल्पना करता है, उसे अपने दोषों की खबर नहीं है। यदि सत्य वस्तु की जिज्ञासा हो तो नम्रतापूर्वक बारम्बार सुनने की रुचि उत्पन्न हो, अघाता नहीं और जिसकी रुचि होती है, उसकी मुख्यता—महिमा—भावना तथा पुष्टि भी अवश्य होती है। जिसकी रुचि हो, उसी की प्रीतिपूर्वक बारम्बार भावना करता रहता है। आत्मकल्याण में प्रवर्तमान जीव को स्वप्न में—जागृत अवस्था में—विकल्प, वाणी एवं भावना में सहजरूप से उसी का मनन मंथन होता रहता है।

शरीर-मन-वाणी तो पर हैं; वे तेरे निकालने से नहीं निकल सकते। पुण्य-पाप के भाव मैल हैं—अपवित्र हैं; वे तेरे विपरीत पुरुषार्थ के कारण पराश्रय से उत्पन्न होते हैं और सच्चे पुरुषार्थ से टलते हैं। जो टलता है-दूर हो जाता है, वह जीव का सच्चा स्वरूप नहीं हो सकता।

जिसप्रकार नारियल में चार बात हैं (१) फोतरे अथवा जटें, (२) काचली अथवा नरेली (३) गोले के ऊपर की लाली और (४) अन्दर का सफेद मीठा खोपरा। खोपरा-पाक बनानेवाला जटें, नरेली तथा ऊपर की लाली को निकाल कर मीठे खोपरे का खोपरा-पाक बनाता है। इस दृष्टान्त द्वारा यह सिद्धान्त समझाया है कि—यह शरीर तो फोतरों-जटों के समान है; जड़कर्म नरेली के समान हैं; और राग-द्वेष-मोह लाली के समान मलिन है; किन्तु इन तीनों से रहित नित्य अतीन्द्रिय

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा है; उसकी अभेद प्रतीति-रूप अनुभव दशा वह आत्मा का धर्म है।

अंक और अक्षर पढ़े बिना कोई हिसाब लिखे तो हिसाब नहीं होगा, लकीरें होंगी; उसीप्रकार आत्मा में आत्मप्रसिद्धि करनेवाला लक्षण जाने बिना आत्मा को नहीं जाना जा सकता। जिसे आत्म-स्वभाव का माहात्म्य नहीं है, वह बाह्य भाव को ही माहात्म्य देता है। कोई कहे कि—अमुक व्यक्ति सेवा, पूजा, भक्ति, दानादि बहुत करता है, किन्तु यह तो राग में रुकने की बात है। सेवा, पूजा, भक्ति, दानादि के भाव ज्ञानी के भी होते हैं, तथापि श्रद्धा में उनका आदर नहीं होता। इसलिये प्रथम सच्ची श्रद्धा करना चाहिये। नव पूर्व तक शास्त्र पढ़ा हो, त्याग में महाव्रतों का दोषरहित पालन करता हो; किन्तु उससे क्या? वह आत्मज्ञान का लक्षण नहीं है। रागादि मेरा कर्तव्य नहीं है, मेरा त्रैकालिक ज्ञानानन्द-स्वभाव है, मेरी शान्ति-शुद्धता मुझमें है, उसकी रुचि में जो खड़ा है, उसी को आत्मा कहते हैं।

शुभाशुभभाव पराश्रय से होनेवाले मलिन भाव हैं, वे चैतन्य की जागृति से विरुद्ध हैं, आस्रव हैं, अशुचि हैं; दुःख का कारण हैं; उनके द्वारा आत्मा का धर्म नहीं होता; किन्तु उनसे रहित स्वाश्रित निर्मलस्वभाव से ही धर्म होता है, तीनों काल हित का यह एक ही उपाय है। जब तक इस सत्य नियम को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक अनादिकालीन दुःख का अंत नहीं हो सकता।

अज्ञानवश बाह्य संयोगों में अनुकूलता मानकर दुःख को ही सुख मानता है; वह तो जिसप्रकार किसी रोगी को वात-पित्त-कफ की तीव्र विषमता से उत्पन्न हर्ष-सन्निपात—त्रिदोष होता है, और उसके कारण वह खूब हँसता है, उसी के समान है; अथवा नशे में बेहोश होकर सुख माननेवाले के समान है। वे लोग बेहोश होने के कारण सुख की मिथ्या कल्पना करके हर्ष मानते हैं।

भेदज्ञान द्वारा अंतर में ध्रुवस्वभाव को दृष्टि में लेते ही अशुचिमय अनित्य और दुःखमय सर्व आस्रवों की रुचि दूर हो जाती है। चैतन्य की जागृति का नाश करनेवाली जो पर के ओर की वृत्ति उठती है, वह पुण्य-पापमय है—दुःखदाता ही है, वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे निर्णय द्वारा स्वसन्मुख होते ही अनादिकालीन विभावभावरूप आस्रव दूर हो जाता है। क्षणिक विकार मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रैकालिक ज्ञातास्वभावी हूँ।—इसप्रकार भेदज्ञान होते ही आस्रव अनादि-प्रवाहरूप होने पर भी रुक जाते हैं।

सूर्योदय हो और अंधकार न टले, ऐसा नहीं हो सकता; उसीप्रकार मैं संयोग तथा विकाररहित तथा उसके कर्ता-भोक्तापने से रहित हूँ, त्रिकाल ज्ञानानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि हुई कि उसी समय मिथ्यात्वरूपी भ्रम दूर हो जाता है; और उसके साथ उसके आवरणरूप जो निमित्त था, वह तुरन्त ही दूर हो जाता है। जिसप्रकार वृक्ष की जड़ कटने पर पत्ते कुछ ही समय में सूख ही जाते हैं,

उसीप्रकार आत्मदृष्टि होने पर भ्रम दूर हो जाता है, और अनादिकालीन अज्ञान हट जाता है। —इसप्रकार संसार की जड़ कट जाने पर अल्पकाल में ही संसार का अंत होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

जिसप्रकार किसी करोड़पति सेठ के छह पुत्र हों और एक पुत्री हो; वे सब कहते हैं कि—हम करोड़पति हैं; उससमय किसीप्रकार का भेद उनमें नहीं करते। किन्तु ज्यों ही पुत्री की सगाई की कि—अमुक लड़का है, उसके साथ निश्चय किया है; तीन सौ रुपया माहवार वेतन है और तीस हजार का धनी है; वहाँ तुरन्त पुत्री की दृष्टि पलट जाती है कि—यह घर और यह सम्पत्ति मेरी नहीं है, मेरा घर और वर तो वह है; उसीप्रकार जीव को भी भेद करने में देर नहीं लगती। मैं अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसी प्रतीति करने पर तुरन्त यह भान आ जाता है कि—शरीरादि और पुण्य-पाप विकार मैं नहीं हूँ और उसी समय दृष्टि पलट जाती है।

'द्रव्यदृष्टि, सो सम्यग्दृष्टि'—यह वाक्य पढ़कर एक सज्जन पूछने लगे कि—'महाराज! द्रव्य=पैसा—वाले सम्यग्दृष्टि होते हैं?' तब उन्हें उत्तर दिया कि—भाई! अभी तुमने यह नहीं जाना कि सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर कौन हैं, उनके कहे हुए जीवादि छह द्रव्य क्या हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—यह छह द्रव्य हैं, जो अपने-अपने गुणों के समूहरूप से नित्य स्थायी रहकर नवीन-नवीन पर्यायरूप से प्रतिसमय बदलते रहते हैं। उनमें जीव द्रव्य संख्या से अनंतानंत हैं। पुण्य-पाप आस्रव हैं, वे अनात्मा हैं; उनसे रहित त्रैकालिक चिदानन्द आत्मद्रव्य है, वही मेरा स्वरूप है—ऐसी दृष्टि करना, सो 'द्रव्यदृष्टि' है। दान-पुण्यादि बाह्य क्रिया से धर्म माने—मनाये या दूसरे से भला—बुरा होना बतलाये तो ऐसी बात को ज्ञानी बिलकुल नहीं मानते। सर्वभेद, विकार और संयोगों से भिन्न मैं त्रिकाल निर्विकारी ज्ञायकस्वभावी हूँ—ऐसी आत्मा दृष्टि होना, सो द्रव्यदृष्टि है। जो ऐसी अंतर्दृष्टि करे, उसे चौरासी के अवतारों का अंत आये बिना नहीं रहता।

चक्रवर्ती (छह खंड पृथ्वी के विजेता स्वामी) की समस्त संपत्ति से भी जिसका मात्र एक समय भी विशेष मूल्यवान है, ऐसा इस मनुष्य देह और परमार्थ को अनुकूल ऐसा योग संप्राप्त होने पर यदि जन्म मरण से रहित ऐसा परमपद का ध्यान रखा नहीं तो इस मनुष्यत्व को अधिष्ठित ऐसे आत्मा को अनंत बार धिक्कार हो! जिसने प्रमाद का जय किया, उन्होंने परमपद का जय किया। (श्री राजचन्द्रजी)

सोनगढ़ के खास समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में सत्पुरुष पू० श्री कानजी स्वामी की छत्रछाया में ६३ फुट उन्नत भव्य मनोहर मानस्तंभ के जिनेन्द्र प्रतिष्ठा महोत्सव की १० वीं वार्षिक जयन्ती बहुत धूमधाम के साथ सप्त दिवसीय महोत्सव के साथ मनाई गई। मानस्तम्भ के चारों ओर बढ़िया मंच बाँधकर ऊपर चारों दिशाओं में विराजमान श्री सीमंधर भगवान का सहस्त्रों कलशों से महा अभिषेक करने की सुन्दर व्यवस्था की गई थी।

सुवर्ण चांदीमय कलशों द्वारा शुद्ध जल से अभिषेक हुये। सर्व प्रथम पू० श्री कानजी स्वामी ने अपने स्वहस्त से सुवर्ण कलश द्वारा बड़े भक्तिभाव से भगवान का अभिषेक किया, जयजयकार से आकाश गूँज रहा था। नौ साल के बाद आज इस अभिषेक का लाभ पाकर भक्तजनों के उल्लास-आनन्द का पार नहीं था। पूज्य बहिन श्री बहिन की भक्ति एवं उल्लास तो देखते ही बनता था।

इस अवसर पर अजमेर की भजन मंडली के द्वारा जिनेन्द्र भक्ति का बहुत ठाठ था। जिसमें श्री मूलचन्दजी के नृत्य एवं श्री शांतिलालजी के गायन सबका आकर्षण रूप थे।

पू० श्री कानजी स्वामी की अमृतमय अध्यात्म वाणी के द्वारा सबेरे मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रवचन में जिनमार्ग में निश्चय-व्यवहार का स्वरूप कैसा है? अज्ञानवश जीव उसका विपरीत अर्थ कैसे करते हैं, यह समझाया था, और समयसार जी के प्रवचन में सम्यग्दृष्टि को सप्त-भय रहितता, नि:शंकित आदि गुण निरन्तर क्यों और कैसे होते हैं, इस बात पर उनका अनेक दृष्टान्त सहित शास्त्राधार से सुन्दर स्पष्टीकरण मुमुक्षु हृदय की वीणा के तार-तार को झंकृत कर देता था।

चैत्र शुक्ला ११ को श्री १००८ भगवान श्री महावीर प्रभु की भव्य रथयात्रा निकाली गई। रथ चांदी की सुन्दर गंधकुटी सहित नया आया था, इसलिये भी विशेष उत्साह था। अजमेर की भजन मंडली के भजन व नृत्यों ने तो सारे शहर में धूम मचा दी थी। हर रोज रात्रि के समय जिनेन्द्र-भक्ति का विशेष कार्यक्रम रहता था। दर्शकों की संख्या बहुत ज्यादा होने के जिनमंदिर से बाहर भक्ति का आयोजन करना पड़ा था। भक्ति के समय बड़े-बड़े श्रीमान् व धीमान् भी उत्साह में आकर नृत्य करने लगते थे।

चैत्र शुक्ला १३ को भगवान श्री महावीर भगवान का जन्म कल्याणक दिवस होने के कारण तथा-पूज्य स्वामीजी ने महामांगलिक शुद्ध दिगम्बर जैन धर्म में परिवर्तन करके प्रगटरूप से जैन

धर्म की घोषणा की, आत्मकल्याण का मार्ग बतलाने में, आप सच्चे उपकारी होने का महान पवित्रदिवस होने के कारण एक महान ऐतिहासिक एवं उत्सव के दिवस के रूप में मनाया गया।

प्रातः प्रभात फेरी के बाद जिनेन्द्र पूजन, पू० स्वामी जी के प्रवचन के बाद भगवान श्री महावीरस्वामी की भव्य रथयात्रा प्रथम के अनुसार ठाठबाट से निकाली गई थी। बाहर से आगत सज्जनों को रात्रि में मानस्तम्भ प्रतिष्ठा महोत्सव की फिल्म भी दिखाई थी।

उत्सव के समय खर्च के लिये हजारों रुपये की आमदनी संस्था को हुई। अभिषेक के लिये प्रथम सुवर्ण कलश ३०००) में लिया गया था। उत्सव का लाभ लेने के लिये बहुत दूर-दूर से बहुत से भव्यगण १५०० की संख्या में आये थे।

सब मुमुक्षुओं को श्री नवनीतभाई सी० जौहरी (बम्बई) श्री उग्रसेन जी बंडी (उदयपुर) की ओर से १-१ दिन का प्रीतिभोज था।

इस उत्सव के अवसर पर श्री दि० जैन मुमुक्षु महामंडल की साधारण सभा का अधिवेशन भी हुआ। उसमें भाग लेने के लिए दूर दूर के मुमुक्षु मंडलों के प्रतिनिधि आये थे, और नवीन उत्साह के वातावरण में महामंडल का अधिवेशन हुआ। तीन वर्ष के लिये कार्यकारिणी का चुनाव हुआ। उसके प्रमुख श्री रामजीभाई माणेकचन्दजी दोशी, उपप्रमुख सेठ नवनीतलाल चुन्नीलाल जौहरी ने तथा श्री नेमीचन्दजी पाटनी (किशनगढ़-आगरा) वालों ने विशेष उत्साह के साथ भाग लेकर उक्त कार्यवाही को सफल बनाया।

श्री नेमीचन्दजी पाटनी (किशनगढ़-आगरा)—

इस उत्सव में खास आये थे। संस्था को आप द्वारा उपयोगी सूचना हमेशा मिलती रहती है।

सेठ श्री नवनीतभाई सी० जौहरी बम्बई—

मुमुक्षु मंडल की हर एक प्रवृत्ति में बड़े-उत्साह के साथ भाग लेते हैं; अपनी धर्मपत्नी सहित रोजाना शास्त्र प्रवचन में आते थे, सोनगढ़ भी समय-समय पर आते रहते हैं; तत्त्वज्ञान को अच्छी तरह समझकर ग्रहण करते हैं। उज्जैन में श्री स्वाध्याय मन्दिर का तथा ता० २०-४-६२ को बम्बई दादर में श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल के अंतर्गत बननेवाले श्री दि० जैन मन्दिर का तथा विशाल समवसरण का शिलान्यास समारोह भी इन्हीं के शुभहस्त द्वारा हुआ। पूज्य कानजीस्वामी द्वारा प्ररूपित सत् साहित्य का तथा सत् तत्त्व का जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा रूप में प्रचार हो, यह आपकी अत्यन्त उग्र जिज्ञासा है, और उसके लिये पूर्ण प्रयत्न में तन, मन व धन से लगे हुये हैं।

श्री बाबूलाल चुन्नीलाल (फतेपुर-गुजरात)—

जो जैनधर्म की प्रभावना में योग्य उत्साही हैं, आत्मार्थी हैं। रथयात्रा में तथा रात्रि-भक्ति में आपकी जिनेन्द्र भगवान के प्रति अद्‌भुत भक्ति और नृत्य सहित धुन देखकर सभी प्रमोद और भक्ति रस में झूलते थे।

श्री दीपचन्दजी सेठीया (सरदार शहर-राजस्थान)—

जो बाईस साल से पू० स्वामी जी के परमभक्त एवं परीक्षा प्रधानी, प्रौढ़ तत्त्व विचारक, वैरागी, विशेष धर्म संस्कारवान और सम्यक्-भेदज्ञानी आत्मार्थी पुरुष हैं, आत्महित में ही प्रवृत्ति और प्रचार के द्वारा समाज में जिनका नाम बहुत ही प्रसिद्धि को पा चुका है। ३५ साल पूर्व मामाजी अपना ६० लाख रु० का वारसा देते थे, वैराग्यवश आपने नहीं लिया। आपकी भावना है कि स्वामीजी द्वारा जो सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत तत्त्वज्ञान का असाधारण प्रकाश व प्रचार हो रहा है, वह बहुत वृद्धि पाकर सारे ही देश में फैलता रहे।

पू० स्वामीजी की आँख के मोतियाबिंदु का ऑपरेशन सफल हुवे, बाद आँख ठीक हो चुकी है और प्रथम प्रवचन शुरु होने का समाचार मिलते ही इस खुशी के अवसर पर ज्ञान-प्रचारार्थ श्री सेठीयाजी ने तथा अपने नारायण परिवार व अनेक मित्रों द्वारा सब मिलाकर ३३७०९ (तेतीस हजार सात सौ नौ) रु० श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट को दिया। सेठीया जी ने शरीर की अवस्था कमजोर होने पर भी बहुत दूर से पू० स्वामीजी के परिवर्तन दिन चैत्र सुदी १३ पर भक्तिवश सोनगढ़ पधारे, इसप्रकार अनेक नवीनता एवं विशेषताओं के साथ उपरोक्त महोत्सव आनन्द व उल्साह के साथ मनाया गया। *—ब्र० गुलाबचन्द जैन।*

श्री दिगम्बर जिनमंदिर शिलान्यास विधि महोत्सव

बम्बई—दादर विभाग में स्थिन कहान नगर सोसायटी द्वारा ता० २०-४-६२ को नये जिनमंदिर के लिये शिलान्यास विधि का उत्सव भारी आनन्द पूर्वक मनाया गया।

सबेरे श्री नेमिनाथ भगवान को रथ में विराजमान करके भव्य रथयात्रा निकाली, रथ में भगवान को लेकर बैठे हुये श्री नवनीतलालभाई को देखकर सभी लोग खुशी मना रहे थे। रथयात्रा का दृश्य बहुत ही सुन्दर था।

८.०० बजे जहाँ नये जिनमंदिर का निर्माण होना था, उस प्लाट में भगवान की पूजनादि की

गई। बाद सबेरे ९ बजे बम्बई के सुप्रसिद्ध, उदार, शान्त धर्मप्रेमी; जो तत्त्वज्ञान में समझदार हैं, श्रीमान् सेठ श्री नवनीतलालभाई सी० जवेरी J.P. के शुभहस्त द्वारा शिलान्यास विधि सम्पन्न हुई। वातावरण बहुत आनन्ददायक था।

श्रीमान् सेठ श्री राजकुमारजी साहब (इन्दौर) तथा अनेक प्रमुख व्यक्ति भी उपस्थित थे।

यथासमय श्री खीमचन्दभाई जेठालाल सेठ ने मांगलिक प्रवचन किया था। श्रीमान नवनीतभाई श्री मणीभाई प्रमुख श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल तथा श्री चिमनभाई ने भी अपना वक्तव्य प्रवचन के रूप में दिया था।

अपने को ऐसा महान अपूर्व अवसर मिला है; उसकी खुशी में श्रीमान् सेठ नवनीतभाई सी० जौहरी ने रु० १५००१) श्री दि० जैन मंदिर को दान में दिया तथा रु० ७५०१) सेठ मणिभाई जेठालाल सेठ ने अपने भाईयों की ओर से श्री जिनमंदिर में दिया। बाद अनेक भाई-बहिनों ने बड़े उत्साह सहित उदान दिया जिससे सब मिलकर ४४ हजार की रकम एकत्रित हुई।

इस प्रसंग पर श्री नवनीतभाई जौहरी जे०पी० ने जो बहुत ही नम्र हैं—उन्होंने कहा कि—निश्चय सम्यग्दर्शन बिना व्यवहार सम्यक्त्व हो सकता नहीं, सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझना बहुत जरूरी है। भव के अंत का प्रथम उपाय यही है। मेरी समझ के अनुसार इस काल में, मात्र इस भारत में ही नहीं किन्तु सारी दुनियाँ (अन्य देशों) में सम्यग्दर्शन का स्वरूप यथार्थतया समझाते हों तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ही हैं। ऐसी दृढ़ता से अपना स्पष्ट अभिप्राय आपने व्यक्त किया था, और सारे भारत में जिनके प्रभाव द्वारा तत्त्वज्ञान का प्रकाश और प्रवाह विस्तृत हो रहा है, ऐसे पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का आभार माना था। प्रसिद्ध मनोज्ञवक्ता श्री खीमचन्द जेठालाल सेठ ने कहा कि—यहाँ श्री महावीर भगवान का भव्य जिनमंदिर निर्माण होनेवाला है, आज शुक्रवार है, शुक्र अर्थात् वीर्य, वीर प्रभु का सम्यक् संदेश भी आत्मवीर्य उछालने के लिये है। ऐसे वीर प्रभु के वीतराग-विज्ञानमय आत्महितार्थ दिव्य संदेश को ग्रहण करके जिन्होंने अपने आत्महित के लिये वीर्य (सम्यक् पुरुषार्थ) प्रगट करने का अमूल्य उपदेश दिया है, ऐसे श्री गुरुदेव का हमारा ऊपर अनंत उपकार है, इत्यादि सुन्दर विवेचन दिया था।

इसप्रकार सारा ही कार्यक्रम अत्यन्त आनन्द सहित सम्पन्न हुआ।

—ब्र० गुलाबचन्द जैन

अपूर्व अवसर नया प्रकाशन

(श्रीमद्राजचन्द्रजी कृत एक महान काव्य) इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन हिन्दी में छप रहे हैं जो शीघ्र ही तैयार हो रहा है।

★

श्री समयसार (परमागम शास्त्र)

सुन्दर ढंग से छप रहा है। इस ग्रंथ में गाथाएँ रंगीन स्याही से छप रही हैं। कई मुख्य गाथाएँ सुनहरी स्याही से भी छप रही हैं। इस बार का प्रकाशन बढ़िया कीमती कागज पर लागत से भी कम मूल्य में सस्ता होगा। जिज्ञासुओं की मांग बहुत होने से निवेदन है कि वे धैर्य रखें। —प्रकाशक

★

श्री जैनदर्शन शिक्षण वर्ग

ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में विद्यार्थयों के लिए सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैनदर्शन शिक्षण वर्ग चालू होगा जो कि मई मास ता० १३-५-६२ से शुरु होकर ता० ३-६-६२ तक चालू रहेगा।

हरेक जिज्ञासु विद्यार्थी तत्त्वज्ञान द्वारा प्रयोजनभूत आत्महित का मार्ग स्पष्टरूप से समझ सके, इसलिये जैनदर्शन शिक्षणवर्ग शुरु होगा। जिज्ञासु विद्यार्थी धार्मिक शिक्षण का लाभ लेकर छुट्टियों का सदुपयोग करें ऐसी खास प्रार्थना है।

विद्यार्थियों के लिये रहने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर सेम होगी। आने के लिये पत्र द्वारा जवाब मँगवा लेवें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
नियमसार	५ ॥)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	छहढाला (नई टीका)	॥ ।–)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ॥)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समाधितंत्र	२ ।=)
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–	
द्वितीय भाग	॥–)	७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)	शासन प्रभाव	=)
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।